© 2020 | International Journal of Scientific Research in Science and Technology
IJSRST | Volume 7 | Issue 1 | Print ISSN: 2395-6011 | Online ISSN: 2395-602X

ईसाई धर्म में अशुभ की समस्या और उसका समाधान

मो0 असलम
शोध–छात्र
दर्शनशास्त्र विभाग
राजनारायण महाविद्यालय
हाजीपुर।

ईसाई धर्म का उद्भव एवं विकास यहूदी धर्म से हुआ है। यहूदी धर्म के पवित्र ग्रंथ 'बाइबिल' का परिवर्धन, परिवर्तन एवं सुधार कर ईसाई ने अपने को नये रूप में प्रस्तुत किया। इस प्रकार क्राइस्ट ने किसी नये धर्म की स्थापना नहीं की, बल्कि पुराने धर्मों को परिवर्धित एवं परिमार्जित कर नवीन नामकरण करने का प्रयास किया। साथ ही इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि क्राइस्ट को नई अनुभूति हुई थी और उन्होंने यहूदी धर्म की खामियों को देखने का प्रयत्न किया। जैसा कि डॉ0 राधाकृष्णन ने कहा है कि 'इसमें कोई संदेह नहीं कि ईसा के जीवन में एक अवस्था ऐसी आ गई थी जब उन्हें सार्वभौमिकता और प्रेम की प्रत्यक्ष अनुभूति हुई थी।'[1] ऐसी अनुभूति होने पर क्राइस्ट ने यहूदी धर्म के अनेकों मतों का विरोध किया। जहाँ यहूदी धर्म ईश्वरीय राज्य में केवल पूण्यात्मा और न्यायनिष्ठ व्यक्तियों को ही प्रवेश देता है वहीं क्राइस्ट इसके विपरित चाहे वह पूण्यात्मा हो या पापी सभी को प्रवेश देते हैं। यहूदी धर्म में पड़ोसी से प्रेम की बात कही गई है जबकि क्राइस्ट के अनुसार 'कोई भी आदमी जो परेशानी में हो, उसकी जाति या राष्ट्रीयता चाहे जो भी हो ऐसे व्यक्ति पर दया करें।'

हिन्दू धर्म की भाँति ईसाई धर्म में भी अशुभ को मानव संकल्प – स्वतंत्र्य का दुरूपयोग कहा गया है। इस धर्म के अनुसार ईश्वर ने मनुष्य को संकल्प–स्वातंत्र्य दिया जिससे वे स्वतंत्रतापूर्वक किसी एक संकल्प को चुनने में समर्थ हो सके। लोग या तो ईश्वर को प्यार करे या घृणा। मानव ने ईश्वर के प्रति अनादर या घृणा का प्रदर्शन किया जिसके फलस्वरूप जगत् में अशुभ व्याप्त हुआ। इस प्रकार ईसाई धर्म में अशुभ को अपने जीवन में आने ही नहीं दे।

शुभ का अभाव अशुभ है। यहूदी मत के अनुसार अशुभ वाह्य रूप में देखी गयी और उनसे बचने के लिए वाह्य क्रिया–विधानों पर अत्यधिक बल दिया गया। ईसा ने कहा कि शुभ ईश्वरीय संकल्प है और अशुभ मानवकृत है। वासनाएँ जिस पर मनुष्य नियंत्रण नहीं कर पाता वही पाप और बुराईयों की जड़ है। शुचिता के लिए मनुष्य को भीतर झाँकना चाहिए। वाह्य बाडम्बर उतना महत्वपूर्ण नहीं जितना भीतर की स्वच्छता आवश्यक है। ऐसा कुछ भी नहीं जो मनुष्य के भीतर घुसकर अशुद्ध कर दे। जो वस्तुएँ मनुष्य के भीतर से निकलती हैं वे उन्हें अशुद्ध करते हैं। मानव मन से बुरी–बुरी चिन्ता, व्यभिचार, चोरी, हत्या, पर–स्त्रीगमन, छल, निन्दा और अभिमान निकलती है ये सब बुरी बातें भीतर से ही निकलती है और अशुभ को जन्म देती है। ईसाई धर्म में अशुभ को विश्व की विशेषता मानी गई है। विश्व एक सृष्टि है। सृष्टि होने के नाते यह पूर्ण नहीं है। अशुभ विश्व की अपूर्णता का प्रतीक है। अब प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर एक है और उसी ने सृष्टि की है तो फिर अशुभ की भी उसी ने सृष्टि कर मानव को दुःखी किया है। यदि ऐसा है तो वह दयालु नहीं कहला सकता। संसार की समस्त प्रक्रियाओं एवं घटनाओं के लिए ईश्वर ही उत्तरदायी है। क्या ऐसा संभव है कि संसार में कोई दुर्घटना हो और वह ईश्वर का कार्य न हो।[3] यशायह नबी की भी यही मान्यता है। उनका मानना

है कि सुदूर असीरिया अथवा मिश्र की मधुमक्खियों की उड़ान भी इसी ईश्वर से नियंत्रित होती है।[4] प्रश्न उठता है यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है और परमदयालु है तो फिर विश्व में अशुभ क्यों है? ईसाई धर्म के लिए इस उभयपाश से निकलना बहुत कठिन है। इसके लिए उनके पास ईसा के वचनों पर विश्वास करने के अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं है।

जगत में जो बुराई है, जो अशुभ है उसके लिए मानव उत्तरदायी है। इस संदर्भ में ईसाई धर्म ने मूल पाप की धारणा को प्रस्तुत की है। मूल पाप यानि आदि पिता द्वारा फल खाकर किया गया पाप। आज इस आदम पिता द्वारा किए गए पाप का ही परिणाम है कि समस्त मानव जाति उस पाप का भागीदार बना हुआ है। लेकिन यह तब होता जब ईसा यह मानते कि एक द्वारा किये गए कर्म का फल दूसरे व्यक्ति को मिलता है, लेकिन ऐसी नहीं है। ईसा ने यह स्पष्ट कर दिया है कि व्यक्ति जैसा कर्म करेगा उसे वैसी ही फल की प्राप्ति होगी।

वस्तुतः आदि पाप या मूल पाप से तात्पर्य उस पाप से है जो मानव के अंदर अपनी व्यापकता बनाए हुए है। वह इतनी गहरी है कि मानव उससे बच नहीं सकता। वह स्वयं अपने पापों को दूर कर पवित्रात्मा नहीं हो सकता है। इससे मुक्ति के लिए उसे ईश्वर की शरण में जाना ही पड़ेगा। ईश्वर का उद्देश्य मानव इच्छा–स्वातंत्र्य के आधार पर बुराई को त्याग कर अच्छाई को चुने और अंत में ईश्वर के सानिध्य योग होने के लिए पवित्र संकल्पी बने। लेकिन मानव पवित्र संकल्पी तभी हो सकता है जब वह अपनी इच्छा को ईश्वर के अधीन कर दे और उसकी आज्ञाओं को पूर्णतया पालन करे, क्योंकि ईश्वर की सेवा सच्ची स्वतंत्रता है।[5] ईसा में विश्वास रखने से उनमें नए जीवन का संचार होता है।

संदर्भ–सूची :

1. डॉ0 राधाकृष्णन, प्राच्य और पाश्चात्य विचार, पृ0–190
2. ल्यूक, 10/25, 23–24, 27–28
3. मत्ती, 23/25, 23–24, 27–28
4. यशायह, 7/18
5. गलातियों, 3/21–27